मार्च १९९५ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

शील-कथा

हम अपने कथन और लेखन में बार-बार धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे साधक किसी मिथ्या भ्रांति में न पड़ जायँ। धर्म का अर्थ कोई संप्रदाय विशेष नहीं है। धर्म का अर्थ है एक ऐसा सुख-शांतिमय जीवन-आदर्श जो कि न केवल अपने लिए, बल्कि समस्त मानव समाज या यों कहें कि समस्त प्राणी समाज के लिए सुख-शांति और कल्याण का साधन है। धर्म की शुद्धता इसी बात में है कि वह किसी व्यक्ति-विशेष, वर्ग-विशेष, जाति-विशेष, समूह-विशेष, राविशेष या देश-विशेष तक सीमित न हो जाय। ऐसा होने पर धर्म सत्य धर्म नहीं रहेगा, सद्धर्म नहीं रहेगा। वह एक संप्रदाय हो जायेगा। शुद्ध सद्धर्म की विशेषता यही है कि वह मानव मात्र के लिए समान रूप से सहज ग्राह्य भी होता है और कल्याणकारी भी। जहां सद्धर्म है वहां मानव-मानव में विभाजन नहीं किया जा सकता, किसी को धर्म का अधिकारी और किसी को धर्म से वंचित नहीं रखा जा सकता। सद्धर्म में किसी विधान का अंधानुकरण नहीं होता। इसके द्वारा तो प्रत्येक मनुष्य अपनी तथा परायी भलाई-बुराई समझता है और सब के भले के लिए शांतिमय जीवन जीने की एक कलासीखता है। वह कैसे काया और वाणी के दुष्कर्मों से दूर रह कर शीलवान तथा सदाचारी बने? कैसे अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे? कैसे औरों की सुख-शांति बनाए रखने में सहायक हो सके? शील और सदाचार कायम रखने के लिए कैसे मन को वश में रखना सीख सके? कैसे अंतर्मुखी हो कर अपनी प्रज्ञा जाग्रत कर सके? मनोविकारों का निरंतर नियंत्रण और दमन करते रहने के बजाय, उन्हें उच्छृंखलताभरी खुली छूट देते रहने के बजाय कैसे प्रज्ञा द्वारा उनका पूर्णतया सहज शमन कर सके? रेचन कर सके? चित्त को अपनी सहज शुद्धता में प्रतिष्ठित कर सके? कैसे मुक्ति- विमोक्षरस का आस्वादन कर सके? कैसे परमपद निर्वाण का साक्षात्कार कर सके?

यह शील, यह समाधि, यह प्रज्ञा और यह विमुक्ति किसी व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष अथवा संप्रदाय-विशेष की ही बपौती कैसे हो सकती है? यह तो सर्वसुलभ है। जो भी शील का पालन करे, समाधि द्वारा चित्त-निग्रह का अभ्यास करे और प्रज्ञा द्वारा चित्त-विशोधन करे, वही मुक्तिरस का पान कर सकता है। शील, समाधि, प्रज्ञा और तज्जन्य विमुक्ति ही शुद्ध धर्म है, यही सद्धर्म है।

इस शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास द्वारा शुद्ध धर्ममय जीवन जीने का अभ्यास करने के लिए यह कत्तई आवश्यक नहीं कि मानव पहले अपने आप को किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित कर ले और तभी वह शांति-सुख का अधिकारी हो। नहीं, ऐसा है ही नहीं। किसी भी जाति, वर्ग, संप्रदाय, देश, काल और बोली-भाषा का व्यक्ति जब चाहे तब शील, समाधि और प्रज्ञा धर्म का अभ्यास कर सकता है और सुखी-शांत जीवन व्यतीत करता हुआ अपना लोक और परलोक सुधार सकता है, अपना और अपने साथियों का हितसुख साधता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है।

शील इस कल्याणकारी मार्ग का प्रथम चरण है। शील इस शुद्ध आध्यात्मिक जीवन की नींव है, आधारशिला है। बिना शील-संपन्न हुए कोई व्यक्ति सम्यक समाधि प्राप्त कर ले, यह संभव नहीं और बिना शील-समाधि में प्रतिष्ठित हुए किसी की अंतरप्रज्ञा जाग जाय और वह अपने मन के सारे विकारों को धो डाले, यह भी संभव नहीं। अतः शील इस कल्याणकारी शुद्ध धर्मकाया का प्राण-स्वरूप ही है।

आओ, समझें यह शील क्या है?

काया और वाणी के दुष्कर्मों से विरत रहते हुए मूर्खतापूर्ण दुराचारी जीवन से दूर रहना और समझदारीपूर्ण सदाचारमय जीवन बिताना ही शील है। दुराचारमय जीवन व्यक्ति-व्यक्ति में, समाज-समाज में दुर्भावना, द्वेष, द्रोह और विग्रह पैदा करता है, जबकि सदाचारमय जीवन सुख-शांति, सद्भावना और मैत्री पैदा करता है। पहला सापद और सदोष जीवन है, जबकि दूसरा निरापद और निर्दोष। पहले में अपने लिए तथा अन्य सभों के लिए असीम दुख का प्रजनन और संवर्धन है, जबकि दूसरे में इसका शमन और निर्मूलन है। आओ, अब एक-एक करके पांचों शीलों को इसी आत्महित और सर्वहितकारिता की कसौटी पर कस कर देखें।

१ – हिंसा से विरत रहने में मैत्री और करुणा के मंगल भावों का विकास होता है, जबकि उसमें निरत रहने से क्रोध, द्वेष, द्रोह और दुर्भावना का ही पोषण होता है। यह शील मनुष्य का मनुष्य के प्रति ही नहीं, बल्कि पशुओं और इतर प्राणियों के प्रति भी सौमनस्यता का भाव पैदा करनेवाला है। इस शील द्वारा हम 'जीवों जीवस्य भोजनम्' "मारो या मरो" वाले जंगली कानून से दूर होते हैं। सब प्राणियों को आत्मवत मानते हुए **'अत्तानं उपमं कत्वा'** वाली सच्चाई को ग्रहण करते हैं। 'जीओ और जीने दो' के मैत्रीपूर्ण वातावरण को तैयार करते हैं। प्राणियों का सुख-संवर्धन करते हैं।

२ – अदिन्नादान से विरत रह कर हम अति लोभजन्य दुर्जनता से बचते हैं। लुक-छिप कर चोरी करना ही अदिन्नादान नहीं है, बलपूर्वक डाके डालना ही अदिन्नादान नहीं है, बल्कि लोभ-लोलुप हो कर अधर्मपूर्वक मिथ्या आजीविका के साधनों द्वारा धन-संग्रह करना और जनता को निर्धन-दुखी बनाना भी अदिन्नादान ही है, चोरी ही है, स्तेय ही है। इस शील द्वारा हम अंधी स्वार्थांधता से बच कर परदुखकातरतापूर्ण करुणा के भावों का पोषण करते हैं। सब के हित न्यायोचित जीवन-यापन के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होने में मदद करते हैं।

३ – कामसंबंधी दुराचरण से विरत रह कर हम अपने भीतर समाई हुई दुर्दमनीय पाशविक वासनाओं का दमन कर आत्म-संयम का अभ्यास करते हैं। पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था के संतुलन और सबके सुखद स्वास्थ्य की सुरक्षा में मदद करते हैं।

४ – वाचिक दुष्चरित से विरत रह कर हम वाणी का संयमन सीखते हैं। झूठ बोलना, कडुवा बोलना, निंदा-चुगली करना, निरर्थक बोलना, छोड़ते हैं और इस प्रकार स्वयं बेचैन होने से बचते

हैं। औरों की हानि नहीं करते। औरों का जी नहीं दुखाते। सच्ची, सीधी, मीठी और कल्याणकारी वाणी बोल कर स्वयं शांत सुखी रहते हैं।

५ – मादक पदार्थों से विरत रह कर हम न केवल अपने आप को इन पदार्थों का गुलाम होने से बचाते हैं, बल्कि इनके वशीभूत हो कर प्रमत्त अवस्था में औरों की सुख-शांति भंग करने के पागलपन से भी बचते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी शील आत्महित और परहित के लिए ही हैं। कोई हत्यारा, लोभी, व्यभिचारी, झूठा और मद्यप व्यक्ति अपनी इंद्रियों को भला कैसे वश में रख सकता है? कैसे अपने मन को स्थिर-शांत कर सकता है? कैसे प्रज्ञा जाग्रत कर मन में उत्पन्न होने वाले विभिन्न विनाशकारी विकारों से मुक्त हो सकता है? कैसे परमपद निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है? कैसे असीम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के सर्वमांगल्यमय विहारों का जीवन जी सकता है? और जो इस प्रकार स्वयं अपना हित-साधन नहीं कर सकता वह औरों का हित-साधन कैसे करेगा? वह तो औरों का भी अहित ही करेगा।

इस शुद्ध धर्म-पथ की यात्रा आरंभ करते हुए जब हम शील-पालन का अभ्यास करते हैं तो किसी संप्रदाय-विशेष का थोथा निष्प्राण रीति-रिवाज पूरा नहीं करते, किसी पुस्तक-विशेष के विधि-विधानमय निर्जीव कर्मकांड का अनुष्ठान नहीं करते, किसी मत-प्रवर्तक या व्यक्ति-विशेष की स्तुति-प्रार्थना, पूजा-अर्चना में नहीं उलझते, किसी मिथ्या अंधविश्वास में पड़कर बिना जाने समझे किसी रूढ़ि-परंपरा के शिकार नहीं होते, किसी लकीर के अंधे फकीर नहीं होते, बल्कि धर्म का जीवन जीना सीखते हैं और वह भी भलीभांति सोच-समझ कर, आत्मकल्याण और परकल्याण के मंगलभावों से स्वतः प्रेरित हो कर। सार्वजनीन हित-सुख और मंगल-स्वस्ति के भावों से अनुप्राणित हो कर। स्पष्ट है कि यह तो एक ऐसी जीवन-पद्धति है, स्वस्थ आचरण-संहिता है जो किसी अन्य के द्वारा हम पर थोपी नहीं जाती, जिसे हम भयाक्रांत हो कर स्वीकारने के लिए मजबूर नहीं होते। इसका पालन करते हुए अंतर्मन में किसी प्रकार की दूषित ग्रंथियां नहीं बनाते। बल्कि स्वस्थ चित्त से स्वस्थ व्यक्ति और स्वस्थ समाज का निर्माण करते हैं।

ऐसा है यह शील! ऐसा है यह शुद्ध धर्म का प्रथम चरण! ऐसा है यह सद्धर्म का आदि में कल्याणकारी स्वरूप! सब के लिए समान रूप से ग्रहण-योग्य! सब के लिए समान रूप से मंगलमय!!

अतः साधको, आओ! हम शीलवान बनें, जिससे कि स्वयं भी सुख-शांति का उपभोग कर सकें तथा औरों की सुख-शांति भी अभंग रख सकें। शील टूटते ही हमारी भी शांति भंग होती है, औरों की भी शांति भंग होती है। हमारा भी हित-सुख दूर होता है, औरों का भी हित-सुख दूर होता है। आत्महित और परहित साधन का नाम ही शील है। आत्म-अहित और पर-अहित ही तो शील-भंजन है।

हम किसी की हत्या करते हैं; परायी वस्तु चुराते हैं, छीनते हैं; व्यभिचार करते हैं; झूठ, छल, कपट की वाणी बोलते हैं; कड़वी, कसैली, निंदाजनक और निरर्थक वाणी बोलते हैं तो पर-पीड़न तो करते ही हैं, साथ-साथ स्वयं भी हिंसा, क्रोध, रोष, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, काम-लोलुपता, वासना, छलना, प्रवंचना और कटुता-कडुवाहट की गंदगियों से अपना मन-मानस भर लेते हैं। अपने मन की निर्मलता खो बैठते हैं। अपनी सुख-शांति और चैन नष्ट कर लेते हैं। इसी प्रकार मादक पदार्थों का सेवन करके हम पराधीन बन जाते हैं, गुलामी की जजीरों में जकड़े जाते हैं और प्रमत्त अवस्था में अपना तथा औरों का, सब का अहित ही करते हैं।

प्रत्येक शील का भंग होना अपने और पराये सब के लिए हानिप्रद ही है। परहित का मंगलभाव अभी तक मन में स्थापित न हुआ हो तो कम से कम आत्महित के लिए ही सही, स्वार्थसिद्धि के लिए ही सही, शीलवान बनना सीखें।

अपना स्वार्थ साधना बुरा नहीं है, बशर्ते कि हम अपना सही स्वार्थ समझें तो सही। सही स्वार्थ वही है, जिसमें परार्थ भी सिद्ध होता है। अपने लिए सच्चा सुख वही है, जिससे औरों का सुख भी कायम रहता है। अपने लिए सच्ची शांति वही है जिससे औरों की शांति भी अभंग रहती है।

औरों की सुख-शांति भंग कर के हम अपने लिए सुख-शांति हासिल करना चाहें, अपना हित-सुख साधना चाहें तो हमने सच्चाई को देखा-समझा ही नहीं। अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली और गुमराह हो गये।

साधको, अपनी सच्ची सुख-शांति और हित-सुख के लिए अन्य सभों की सुख-शांति और अन्य सभों का हित-सुख सुरक्षित रखना सीखें। यही शील-सदाचार है। इसी में आत्ममंगल और सर्वमंगल समाया हुआ है। इसी में आत्महित और सर्वहित समाया हुआ है। अतः सचेत और जागरूक रह कर शीलवान बनने का अभ्यास करें। यही धर्म का पहला कदम है जो कि मुक्ति-मोक्ष की लंबी यात्रा के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। लंबी से लंबी यात्रा के लिए भी पहला कदम ही महत्वपूर्ण है। यह पहला कदम ही हमें यात्रा के अंतिम छोर तक पहुँचाने का कारण बनता है। पहला ही कदम न उठे तो मंजिले-मकसद हमसे सदा दूर ही रहेगा।

तो आओ साधको! इस मंगलमयी धर्मयात्रा का पहला कदम दृढ़ता के साथ उठाएं, शीलवान बनें, शीलवान बनें, शीलवान बनें!

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

साधकों के उद्गार

इंदौर से श्री मानवमुनि लिखते हैं, "आप ने विपश्यना के माध्यम से विज्ञान के युग में एक नयी खोज की और पुरुषार्थ जागृत कर इगतपुरी में विपश्यना का विश्व केंद्र बन गया, जहां प्रतिवर्ष हजारों की सख्यां में देश-विदेश के साधक दस दिन तक पूर्ण मौन धारण कर बाह्यदृष्टि छोड़कर आत्मनिरीक्षण की अंतर्दृष्टि पा रहे हैं। यह एक चमत्कार है। 'विपश्यना मंदिर' जहां जाति, संप्रदाय या वर्ग का किसी प्रकार भेद नहीं, जो सब के लिए खुला है और वह भी बिना किसी फीस के, यह बड़ी विशेषता है। जो साधक देना भी चाहे वह स्वेच्छा से, प्रसन्नता के साथ आनंद समझ कर

और अपनी शक्ति के अनुसार दे, यही आप के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। आप स्वस्थ और शतायु हों!...

मेरा प्रातः एक घंटा और रात्रि आध घंटा विपश्यना ध्यान का नियमित अनवरत अभ्यास चल रहा है। ८४ वर्ष की उम्र में भी नयी ताजगी, नयी स्फूर्ति, नयी चेतना है। अभी ऐसा महसूस होता है कि १६ वर्ष का युवा हूं। यह सब विपश्यना और महापुरुषों का ही आशीर्वाद है।"

नागपुर की श्रीमती ज्योति गीद लिखती है, "पांच वर्ष पूर्व मुझे लड़की पैदा होने के बाद नर्व का 'मल्टीपल स्क्लेरोसिस' नामक रोग लग गया जो लाखों में एक को है। मेरा पारिवारिक जीवन तनाव से इतना भर गया कि मैंने बेटी के साथ आत्महत्या का मन बना लिया था। लेकिन मेरे कुछ पुण्य की वजह से किसी मित्र द्वारा विपश्यना शिविर की जानकारी मिली, आप की कैसेट सुनी और उस रात नींद की गोली बिना ही नींद आयी। शिविर करने के बाद से व्याकुलता कम हो गयी और अब जीवन जीने की इच्छा हो गयी है। सुबह-शाम नियमित ध्यान कर रही हूं। मुझे नया जीवन मिल गया है। आप को कोटिशः नमन। ऐसे ही अनेकों का मंगल हो!"

नागपुर के संतोष जांभुलकर लिखते हैं, "किसी प्रकार मुझे धर्मसेवा का जब पहला अवसर मिला तो मैं धन्य हो गया। इससे मुझे बहुत कुछ अनुभव मिला। धर्मसेवक को बहुत अधिक सजग और सचेत रहना होता है कि कहीं हमारी वजह से किसी का नुकसान न हो जाय। इससे मुझे शिविर से भी अधिक सुख और संतोष का अनुभव हुआ। साधकों के साथ व्यवहार करते समय उनके गुस्से आदि को समता से झेल पाना सचमुच बड़ी कड़ी परीक्षा होती है। साधक द्वारा शिविर के दौरान रोते हुए दारू पीने की मांग करना और शिविर के अंत में यह कहना कि 'अब मैं दारू कभी नहीं पीऊंगा', बड़ी प्रेरणाजनक घटना रही। इन सब से बहुत कुछ सीख मिली। ऐसे ही धर्मसेवा से अनेकों का मंगल हो!"